इकाई 7 नई राजनीतिक व्यवस्थाएं

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले बदलाव;
- नेपोलियन के नेतृत्व में लोकलुभाऊ अधिनायकवाद की स्थापना ; और
- संसदीय प्रणाली में हेरा–फेरी करके रुढ़िवादी शासन की स्थापना करने का बिस्मार्क का तरीका।

7.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में, यूरोप की राजनीतिक व्यवस्थाओं में कहीं अधिक विविधता देखने में आई। शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप के अधिकांश भागों में ऐसे शासकों का राज्य था जो उनमें से कुछ राज्यों में संवैधानिक सरकार के प्रति रूझान होने के बावजूद निरंकुश शासन का दावा करते थे। इसका एकमात्र अपवाद ब्रिटेन था, जो एक संवैधानिक राजतंत्र होने के साथ–साथ धीरे–धीरे लोकतंत्र को अपनाता जा रहा था। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, संवैधानिक सरकार एक संभावित लोकतांत्रिक शासन के अर्थ में अथवा कम से कम एक जनमत आधारित अधिनायकतंत्र के अर्थ में सर्वप्रधान हो गई। व्यापक तौर पर यह परिणाम था उन रियायतों का जो यूरोपीय शासकों को उदारवाद की भावना को देनी पड़ीं थी। शताब्दी के मध्य में जनता की राजनीति के उदय होने से इस भावना को मजबूती मिली थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के आसपास राजतंत्र के निरंकुशतावाद को मिल रही उदारवादियों की चुनौती फलीभूत हुई और ऐसा लगातार असफलताओं के बाद, विशेषकर मेटरनिख प्रणाली व्यवस्था के तहत अर्थात 'पुनरूद्धार काल' में हुआ। 1848 की क्रांति के बाद की स्थितियों में, यूरोपीय शासक जनता की राजनीति की अपवित्रताओं के हाथों अपनी राजनीतिज्ञता के पवित्र अधिकार क्षेत्र के अतिक्रमण को और अनदेखा नहीं कर सके। राजनीति अब राजा, उसके दरबारियों और प्रभावशाली प्रजा का विशेष अधीकृत क्षेत्र नहीं रह गया; यह तो उन आम स्त्री–पुरुषों के जीवन चक्र का एक अंग हो गया, जिनके विभिन्न प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक संघर्षों में भागीदारी के अनुभवों ने क्रांति में योगदान दिया।

इस इकाई में राजतंत्री सरकार से लोकतंत्र की प्रक्रिया तक राजनीतिक व्यवस्था में होने वाले बदलावों की व्याख्या की गई है। इस इकाई में आपको मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान राजनीतिक बदलावों की दिशा के बारे में भी जानकारी दी गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि अधिनायकवादी शासन ने किस प्रकार जनता के समर्थन से अपने शासन को वैध बनाया।

7.2 प्राधिकार का लोकतांत्रिक वैधीकरण

शताब्दी के मध्य में होने वाली क्रांतिकारी उथल–पुथल ने लोकतांत्रीकरण को उदारवादी एजेंडा में एक अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा बना दिया। यह निरंकुशतावाद के विरूद्ध उपस्थित चुनौती का एक अंग और उदारवादी आंदोलन का एक सक्रिय तत्व बन गया। और, यह सब उस स्थिति के बावजूद हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रमुख उदारवादी इस संभावना को लेकर आपत्ति की स्थिति में थे कि अधिसंख्य 'अप्रबुद्ध' लोग राजनीति पर हावी हो जाएंगे। 'अज्ञानी जन साधारण' के शासन को लेकर उनके मनों में लगातार भय बना हुआ था। सच तो यह है कि यूरोपीय उदारवाद को आमतौर पर लोकतंत्र के बारे में जितना एकमत मान लिया गया है उतना वह था नहीं। इसकी अपनी अलग क्षेत्रीय विशेषताएं भी थीं। कुछ जगहों पर तो शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उदारवाद ने लोकतांत्रिक विचारधाराओं को जन्म दे दिया था; अन्य जगहों पर यह संवैधानिक सरकार की मांग करने वाला आदोलन ही था।

यूरोपीय उदारवाद के ऐसे विविध क्षेत्रीय आयाम कुछ हद तक उदारवाद और राष्ट्रवादी राजतत्रों के बीच एक समायोजन का परिणाम थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में जो शासनों की विविधता देखने में आई वह जन आंदोलनों और लोकतांत्रीकरण से निपटने में यूरोपीय शासकों को मिली सफलता से जुड़ी थी। इसमें एक छोर पर था ब्रिटेन जहां उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान एक संवैधानिक राजतंत्र के ढांचे के अंदर लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया में अच्छी खासी प्रगति हुई। दूसरे छोर पर था रूस का एकतंत्रीय शासन (ऑटोक्रेसी), जो यहां–वहां कुछेक रियायतों के बावजूद 1905 तक अपने फौलादी ढांचे को बनाए रखने में कामयाब रहा। फिर 1905 की क्रांतिकारी घटनाओं ने इसकी बुनियाद को कमजोर कर दिया।

फिर भी, फ्रांस अथवा जर्मनी की अपेक्षा रूस का उदारवादी आंदोलन कहीं अधिक कमजोर था। किंतु फ्रांस अथवा जर्मनी में भी उदारवादी आंदोलन असफलताओं से अछूता नहीं रहा। निरंकुश शासन के विरूद्ध होने वाले संघर्ष को उतार–चढ़ाव देखने पड़े। हालांकि 1789 की क्रांति ने फ्रांस में एक गणतांत्रिक शासन की स्थापना कर दी थी और उसकी वैधता का स्रोत एक लोकतांत्रिक विचारधारा बन गई थी, फिर भी जल्दी ही बोनापार्टवाद के आवरण में निरंकुशता के दिखावों के साथ एक किस्म के राजत्व ने इस विचारधारा का स्थान ले लिया। यही कहानी शताब्दी के मध्य में दोहराई गई जब 1848 के बाद के गणतांत्रिक शासन को लूई नेपोलियन के अधीन बोनापार्टवाद के फिर से उभरने ने धूमिल कर दिया। बोनापार्टवाद तो जनप्रिय लोकतंत्र और राजतंत्रीय निरंकुशतावाद के बीचोबीच की विचारधारा थी। लूई नेपोलियन काल के फ्रांस जैसी स्थितियों में निरंकुशतावाद को जनता के चुनावी समर्थन ने मजबूत किया, और इससे एक विशुद्ध तानाशाही शासन को अतिरिक्त वैधता मिल गई। इस प्रकार के शासन के प्रतीक लूई नेपोलियन के साम्राज्य को तो अंततः 1871 के जर्मन एकीकरण युद्ध की सैनिक विफलताओं ने नष्ट कर दिया, और उधर इस युद्ध के बाद की स्थितियों में कुछ–कुछ इसी प्रकार के शासन की स्थापना लूई नेपोलियन के विरोधी बिस्मार्क ने नव गठित जर्मन राष्ट्र–राज्य में कर दी। बिस्मार्क ने प्रशा के निरंकुशतावाद की बुनियादी विशेषताओं को राष्ट्रीय संसद के गठन के लिए सर्वाधिक मताधिकार जैसे नए विचारों के साथ मिला कर पेश किया। यह मिला जुला ढांचा प्रथम विश्व युद्ध की सैनिक विफलताओं तक और उसके परिणामस्वरूप जर्मनी में 1918 में होने वाली गणतांत्रिक क्रांति तक जैसे–तैसे बना रहा। 1871 के बाद नवगठित जर्मन साम्राज्य में राजतंत्रीय व्यवस्था के लिए जनता का समर्थन जुटाने की खातिर लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा सिद्धांतों को अपनी आवश्यकतानुसार ढालने में बिस्मार्क ने असाधारण चतुरता दिखाई। बिस्मार्कवाद के नाम से प्रसिद्ध यह राजनीतिक रणनीति एक प्रकार से बोनापार्टवाद का ही जर्मन संस्करण था, जो पूरे शाही युग में जर्मन शासक वर्गो का मुख्य सिद्धांत रहा।

जर्मनी के शासकों ने इस बात के लगातार प्रयास किए कि "राष्ट्रभक्त जर्मन जनता" को राजतंत्र का समर्थक बनाया जाए। जर्मनी के शासक वर्गो की ओर से इस किस्म की अवसरवादी लामबंदी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व बना वह अतिवादी किस्म का उग्र राष्ट्रवाद जो अधिकांशतः एक नस्लवादी विचारधारा से निकला था। राजतंत्र के लिए जनता का समर्थन जुटाने की प्रक्रिया में, जर्मनी के शासकों ने जनप्रिय रूढ़िवाद की ताकतों का प्रयोग किया और उन्होंने यहूदी विरोध तथा उद्धत राष्ट्रवाद से पोषित फासीवादी प्रवृत्तियों पर रोक लगा दी।

ऐसा प्रतीत होता है कि लोकतांत्रीकरण के विविध और जटिल परिणाम रहे। इसमें राज्य के साधारण नागरिकों के लिए राजनीतिक अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं के आधार को व्यापक करने की सामर्थ्य थी; यह एकतंत्रीय शासकों के हाथों में आकर हथियार भी बन सकता था। यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में

इस पर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। इस प्रकार के अंतर निश्चय ही सामाजिक बदलाव और आधुनिकीकरण से जुड़े थे। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन और जर्मनी में इस प्रकार के अंतर का आधार जर्मनी में विलंबित औद्योगीकरण और उसके परिणमास्वरुप बुर्जुआ वर्ग के विकास में होने वाली कमी को बताया गया है। इसी के कारण, राजनीतिक हैसियत में सामंती ताकतों के साथ समानता का दावा करने वाले उग्र बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति में प्राचीन व्यवस्था के संरक्षण को समर्पित औद्योगिक क्रांति के पूर्व की सामंती ताकतों का बने रहना संभव हुआ। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में भी औद्योगीकरण तथा सार्वभौमिक पुरुष मताधिकार के कारण होने वाली मतदाताओं की व्यापक लामबंदी के प्रभाव में जब जर्मन साम्राज्य के भौतिक तथा राजनीतिक जगत में तेजी से बदलाव आ रहा था, तब भी औद्योगिक क्रांति से पूर्व का जमींदार कुलीन वर्ग अपने सामाजिक तथा राजनीतिक दबदबे को बनाए रखने में कामयाब रहा और इसके लिए इस वर्ग ने चुनावी प्रक्रिया में सफलतापूर्वक अवसरवादी फेर–बदल किया। सामाजिक स्तर पर इस रणनीति को सफल बनाने की चेष्टा दो बातों पर निर्भर थी। एक, किसानों के साथ उनके प्राचीन काल से चले आ रहे संबंधों को समय–समय पर पुनः स्थापित करना। और दो, अपना स्तर उठाने को प्रवृत्त मध्यम वर्गों को अभिजात्य वर्ग के भीतर प्रभावी ढंग से समाहित कर लेना। इस प्रकार की रणनीतियां ही कथित बिस्मार्कवाद का केंद्रीय तत्व थीं और रूसी साम्राज्य में अगर अपेक्षाकृत कमजोरी रही तो उसका कारण इस प्रभावी नीति का रूस में न होना ही था। हालांकि रूसी बुर्जुआ वर्ग की कुल खामियां ही रूसी उदारवाद की कमजोरी का कारण रहीं, और शायद इसी कारण रूसी शाही राज्य ने मध्यम वर्ग को एकजुट करने में कोई जल्दबाजी नहीं दिखाई, फिर भी बिस्मार्कवाद का रूसी संस्करण एकतंत्रीय शासन की ताकत को मजबूत ही करता। निश्चय ही (पी. ए. स्तालिपिन जैसे) कुछ रूसी अधिकारियों ने इस विचार को परख कर देखा, किंतु ये छुटपुट प्रयास ही थे जिनका कोई ठोस नतीजा नहीं निकला।

इन विभिन्नताओं को तय करने में विभिन्न प्रकार की राजनीतिक विरासतें उतनी ही महत्वपूर्ण रहीं जितने कि व्यापक सामाजिक घटनाक्रम। प्रथम आधुनिक लोकतांत्रिक देश ब्रिटेन ने "लंबी उन्नीसवीं शताब्दी" की शुरुआत एक अस्पष्ट लोकतांत्रिक विरासत से की, जो सत्रहवीं शताब्दी की अंग्रेजी क्रांति से चली आ रही थी। इंग्लैंड के गृह युद्ध के दौरान शाही निरंकुशतावाद का नाश हो गया और ढेर सारे अधिकार भी हाउस ऑफ कॉमन्स को हस्तांतरित कर दिए गए। हालांकि मताधिकार तो पूरी अठारहवीं शताब्दी में संपत्ति आदि की योग्यता शर्तो के कारण सीमित रहा, फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान मताधिकार का दायरा धीरे–धीरे बढ़ा दिया गया। इस सब की शुरुआत 1820 के दशक से संसदीय सुधार के आंदोलन के साथ हुई। सुधार के पक्ष में मध्यम वर्ग के अनेक तबकों में एक नया संकल्प बना, और इस आंदोलन के प्रति मजदूर वर्ग के समर्थन ने इसे और भी मजबूती प्रदान की। जमीनी स्तर पर आधार इतना मजबूत था कि ब्रिटेन की राजनीतिक व्यवस्था के लोगों में सुधार का प्रतिरोध कमजोर पड़ने लगा। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि ब्रिटेन का शासक वर्ग सामाजिक आंदोलन को कमजोर करने की कोशिश कर रहा था। 1830 में सत्ता के आने के बाद, अर्ल ग्रे के मंत्रिमंडल ने सुधार के जो प्रस्ताव रखे उनमें से गुप्त मतदान और कम काल के लिए निर्वाचित संसदीय संस्था की उग्र सुधारवादियों की मांगों की अवहेलना कर दी गई, किंतु मताधिकार का दायरा काफी बढ़ा दिया गया। फिर भी ब्रिटेन के शासक वर्ग के मन में जो अनिश्चितताएं थीं उन्हें आसानी से दूर नहीं किया जा सका। देहाती चुनाव क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले सांसदों की ओर से विशेष रूप में कुछ प्रतिरोध हुआ, और संसदीय सुधार विधेयक का पहला संस्करण पारित नहीं हो पाया। इस पृष्ठभूमि में, आगे आने वाले 1831 के चुनाव भी सुधार के बारे में एक वास्तविक जनमत बनकर रह गए। इन चुनावों में हाउस ऑफ कॉमन्स में सुधार के समर्थक ही जीत कर आए, और इसी क्षण हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने सुधार विधेयक के संशोधित रूप को रद्द कर दिया। इसे लेकर जनता में विरोध की लहर बन गई, दंगे–प्रदर्शन हुए, और नीति निर्धारकों को यह विश्वास हो गया कि प्रतिक्रियावादी नीति में खतरा ही था। महान उपयोगितावादी बुद्धिजीवी जेरमी बेंथम के बाद उनमें से अनेक ने इस तथ्य को समझा कि फ्रांस में आधी शताब्दी पहले जिस किस्म की क्रांति ने सिर उठाया था उसे टालने के लिए सुधार आवश्यक था। इसका नतीजा यह हुआ कि 1832 की गर्मियों में ब्रिटेन में चुनाव प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया गया, छोटे संपत्तिधारकों को मताधिकार दिया गया, और इस प्रक्रिया में कोई विद्रोह भी नहीं हुई। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से ही चुनावी भ्रष्टाचार का जो मुद्दा चला आ रहा था, और संरक्षण का भ्रष्ट तरीके से इस्तेमाल करके शाही दरबार द्वारा की जाने वाली चुनावी हेरा–फेरी को लेकर जो जबरदस्त विरोध उठा था, उसे तो इतनी आसानी से खत्म नहीं किया जा सका। बाद में जब उग्रपंथियों की गुप्त मतदान की मांग को मान कर उसे लागू कर दिया गया, तभी जाकर यह मुद्दा सुलझा।

इन बदलावों के बावजूद, संसद में भद्रजन और अभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व बढ़ नहीं पाया तो उसका कारण यह रहा कि कम से कम 1870 के दशक तक तो सरकार के भीतर विभिन्न शक्ति केंद्रों पर अभिजात्य वर्ग का कड़ा नियंत्रण रहा। देहातों का प्रतिनिधित्व बढ़ जाने से भद्र वर्ग की स्थिति मजबूत हो गई। तीन सौ पौंड कीमत की भू–संपत्ति को योग्यता–शर्त के रूप में लागू रख कर शहरी मतदाताओं की एक बड़ी संख्या को मतदान में भागीदारी से वंचित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, शहरों का राजनीतिक जीवन अभी भी सुसंगठित नहीं था और स्थानीय व्यापारी भी अक्सर ही संसदीय राजनीति की अपेक्षा नगरपालिकाओं के चुनावों में कहीं अधिक रुचि लेते थे। सुधार के इस आधे–अधूरे काम में सबसे अधिक घाटे में रहे मजदूर वर्ग। सुधार का कदम उन्हीं के दबाव के कारण संभव हुआ था, किंतु उन्हीं के अधिकारों को मान्यता नहीं मिल पाई।

सुधार पर बहस एक बार फिर 1860 में हुई, जब 'रिफॉर्म लीग' जैसे उग्रपंथी मध्यमवर्गीय संगठनों ने मताधिकार के दायरे को और भी बढ़ाने का सुझाव रखा। इन संगठनों को मजदूर वर्ग का समर्थन प्राप्त था। सुधार के लिए मजदूर वर्ग का दबाव और भी तेज हो गया। उदारवादियों और अभिजात्य वर्ग के सदस्यों की ओर से निचले तबकों के लोगों के आतंक के बारे में व्यक्त की गई चिंताओं के बारे में चली लंबी बहस के बाद, 1876 के सुधार अधिनियम में मताधिकार का विस्तार कर दिया गया। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि लोकतंत्र की दिशा में एक सार्थक कदम उठा लिया गया था। 1876 में जिन लोगों को वोट का अधिकार दिया गया उनकी संख्या बहुत बड़ी थी। मतदाताओं की संख्या तीन वर्षो के भीतर लगभग दो गुनी हो गई, और स्थानीय पार्टी कार्यकर्ताओं की बदलौत यह संख्या लगातार बढ़ती रही। यहां एक उदाहरण पर्याप्त रहेगा। बर्मिंघम में मतदाताओं की संख्या 1866 में 15,000 थी जो बढ़कर 1868 में 43,000 और 1877 तक 62,000 हो गई। 1868 में जिस काम की शुरुआत हुई थी, उसे बाद के एक विधान से पूर्ण कर दिया गया। और, इस प्रकार उदारवादी लोकतंत्र जैसी प्रणाली की स्थापना हो गई।

लगभग इसी समय फ्रांस ने भी नेपोलियन तृतीय के दूसरे साम्राज्य के ध्वस्त होने के बाद लोकतंत्र की दिशा में अपनी अंतिम छलांग लगाई थी। नेपोलियन तृतीय के दूसरे साम्राज्य की स्थापना दूसरे गणतंत्र को भंग करके 1852 में की गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस के लोकतांत्रीकरण का दौर प्रगति और पराजयों का दौर रहा। इससे पहले 1840 के दशक में जग इंग्लैंड में एक लोकतांत्रिक राज्यतंत्र की ओर रूपांतरण की धीमी किंतु अजेय प्रक्रिया चली तो फ्रांस की राजनीति में और भी अधिक उथल–पुथल थी। ऑर्लियन परिवार के राजतंत्र को जनता का थोड़ा बहुत औचित्यपूर्ण समर्थन प्राप्त था, उसे बाद में 1848 में गद्‌दी से हटा दिया गया। इस क्रांति के फलस्वरूप 'दूसरे गणतंत्र' की स्थापना हुई, किंतु उसमें शुरू से ही अंदरूनी झगड़े छाए रहे।

इसका नतीजा यह रहा कि दिसम्बर 1848 में नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा गणतंत्र का राष्ट्रपति बना। अभिजात्य वर्ग और राजतंत्र समर्थकों की लगातार अस्वीकृति के बावजूद, बोनापार्टवादी दावेदार को किसी प्रभावकारी संगठनात्मक तंत्र की अनुपस्थिति में भी अच्छा खासा जन समर्थन मिलता रहा। राजतंत्र समर्थकों के बीच लूई नेपोलियन के विरोधियों में राष्ट्रपति पद के दावेदार को लेकर कोई आम सहमति न बन पाने के कारण अंततः उसके लिए रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार कावेन्याक को हराना आसान हो गया। जब विभिन्न राजनीतिक दल एक दूसरे के साथ कांटे की लड़ाई में व्यस्त थे ऐसे में बोनापार्ट ने स्वयं को ऐसे नेता के रूप में पेश किया जो मौजूदा दलीय झगड़ों से ऊपर था। बोनापार्ट वंश से जुड़ी पारंपरिक साख भी उसके लिए अपार शक्ति का स्रोत रही; किसानों के मामले में यह बात विशेष रूप से सही थी। यह देहात का वोट ही था जो लूई नेपोलियन के जनाधार के लिए इस चुनाव के दौरान और उसके बाद भी मूल आधार सिद्ध हुआ। मुख्य रूप से देहाती समर्थन के बल पर ही नेपोलियन तृतीय फ्रांस में अपनी जनमत आधारित तानाशाही को स्थापित करने में कामयाब रहा; जन मत आधारित राजनीति ने उसे जनता के बीच आवश्यक वैधता प्रदान की।

बोध प्रश्न 1

1) किन तत्वों ने ब्रिटेन को सबसे पहला आधुनिक लोकतंत्र बनाया ? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2) यूरोप में लोकतांत्रीकरण के लिए विभिन्न प्रतिक्रियाओं हेतु कौन से कारक उत्तरदायी थे ? पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

7.3 बोनापार्टवाद

लूई नेपोलियन के बोनापार्टवादी शासन के अपने आकलन को लेकर इतिहासकारों में आमतौर पर मतभेद पाया जाता है। 1930 के दशक के दौरान जब फासीवाद का आतंक था, तब उसे फासीवाद का प्रवर्तक माना जाता था। बाद में इतिहासकारों की रूचि फ्रांसीसी औद्योगीकरण के प्रति इस शासन के योगदान में, विशेषकर एक आधुनिक परिवहन व्यवस्था बनाने में हो गई। इस बारे में आम सहमति है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण फ्रांस के बुर्जुआ वर्ग के हित में एक अत्यंत लाभकरी घटना थी, भले ही उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को तानाशाही शासन ने चूर कर दिया हो। नेपोलियन तृतीय को जो खासी व्यक्तिगत सत्ता मिली वह निश्चित रूप से बुर्जुआ वर्ग के साथ समझौते की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी; किंतु एक बुनियादी स्तर पर यह उन लगातार प्रयासों का परिणाम था जो उसने सीधे–सीधे जनता को प्रभावित करके अपनी सत्ता को मजबूती देने के लिए किए थे। जनमत जैसे चुनावी तरीके उसकी राजनीतिक चालबाजी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व रहा। एक अवसर पर उसने अपने लक्ष्यों को स्पष्ट करने के लिए 'जनता के हितों को पूरा करने' और 'उच्च वर्गों की राजभक्ति' प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया जिससे कि फ्रांसीसी क्रांति द्वारा पैदा किए गए दलीय मतभेदों को दूर किया जा सके। वह फ्रांसीसी क्रांति को राजनीतिक अस्थिरता के लिए जिम्मेदार मानता था। उसने स्वयं को ऐसे समय में राष्ट्रीय एकता का अवतार माना जब राष्ट्र को दलीय मतभेदों ने छिन्न–भिन्न कर रखा था।

इस संदर्भ में, 'दूसरे साम्राज्य' की स्थापना के लिए उत्तरदायी स्थितियों और एक शताब्दी बाद फासीवादी शासनों के उदय से ठीक पहले की स्थितियों में अत्यधिक समानताएं थीं। फासीवादी शासनों के समान ही, 'दूसरे साम्राज्य' को भी सामान्य राजनीतिक संकट और अस्थिरता के व्यापक भय के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। जनता के समर्थन से एक अधिनायकवादी शासन की स्थापना के माध्यम से स्थिरता प्राप्त करने के इसके लक्ष्य के समानांतर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप में होने वाली घटनाएं भी मिलती हैं। सम्राट के प्राधिकार को लोकतांत्रिक मताधिकार ने वैध ठहराया। इसमें संदेह नहीं है कि नेपोलियन तृतीय सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा करने के लिए प्रतिबद्ध था; फिर भी उसके शासन में जनता की संप्रभुता के प्रति एक प्रतिबद्धता स्पष्ट दिखाई पड़ती थी जिसने उसके शासन को विशिष्टता प्रदान की। समय–समय पर होने वाले जनमत का उद्देश्य सम्राट की नीतियों के प्रति जनता का समर्थन हासिल करना था, और साथ ही सम्राट तथा जनता के बीच संबंध को भी सुदृढ़ करना था। इस रणनीति को सामान्यतया बोनापार्टवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है, और इसी के बल पर नेपोलियन तृतीय को प्रातिनिधिक असेम्बलियों के अधिकारों को विधिवत कम करने में सफलता मिली। उसने बड़ी चतुराई से काम लेते हुए जनता की संप्रभुता के प्रति आग्रह को मजबूत अधिनायकवादी केंद्रीकृत सरकार के साथ जोड़ दिया।

लूई नेपोलियन के इरादे दिसम्बर 1848 के राष्ट्रपति पद के चुनावों के समय से ही स्पष्ट थे। राजतंत्र समर्थक और गणतंत्रवादी, दोनों ही किस्म के राजनीतिक कुलीनों के बीच भीषण गुटीय संघर्ष की पृष्ठभूमि में, लूई नेपोलियन ने मानो 1790 के दशक के बोनापार्टवादी शासन को ही फिर से प्रस्तुत करने हेतु अपने आपको एक ऐसे नेता के रूप में पेश किया जो मौजूदा दलीय टकरावों से ऊपर था। अपने चुने जाने के बाद उसने राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था को फिर से स्थापि

करने की आवश्यकता पर बल दिया। एक स्तर पर तो एक बार फिर कैथोलिक चर्च की सामाजिक सत्ता को मजबूत करने के प्रयास किए गए; एक और स्तर पर वामपंथी आंदोलनकारियों के विरूद्ध दमनकारी कदम उठाए गए। इसके बाद जो नए चुनावी कानून बने उनके तहत कोई एक तिहाई मतदाताओं को अयोग्य घोषित कर दिया गया। इनमें से अधिकांश कदम उस अगुआई का परिणाम थे जो फ्रांसीसी संसद के राजतंत्र समर्थक बहुमत ने की थी ताकि आने वाले चुनावों में उनकी जीत पक्की हो जाए। किंतु वे उग्रपंथियों के प्रतिपक्ष को खत्म नहीं कर पाए। इसके विपरीत, दमन की कार्रवाई ने भूमिगत उग्रपंथियों की एक जमात पैदा कर दी और इस बात को लेकर, फ्रांसीसी अधिकारियों की चिंता चरम पर पहुंच गई कि अब क्रांति के माध्यम से सत्ता हथियाने की गुप्त साजिशें होंगी।

उग्र सुधारवादी क्रांतिकारियों की चुनावी जीत के भय के इसी व्यापक संदर्भ में जमींदार वर्ग ने राष्ट्रपति से यह अपेक्षा रखी कि वह व्यवस्था तथा स्थिरता का एक स्थाई ढांचा बनाएं। किंतु संविधान में राष्ट्रपति के दोबारा चुने जाने का प्रावधान नहीं होने के कारण लूई नेपोलियन को मौजूदा स्थितियों ने प्रोत्साहित किया कि वह दिसम्बर 1851 में सत्ता हड़पने का प्रयास करें। रूढ़िवादी तो राष्ट्रपति द्वारा सत्ता हथियाने के समर्थन में थे, इसलिए इस शासन का चरित्र गणतंत्र विरोधी हो गया, हालांकि राजतंत्र समर्थकों में भी नए शासन को लेकर थोड़ी बहुत नाराजगी थी। थोड़े समय के लिए हुए कुछ प्रदर्शनों को छोड़कर, इसका अधिक प्रतिरोध नहीं हुआ, वामपंथियों की ओर से विद्रोह की जो यत्र–तत्र घटनाएं हुईं उनसे गणतंत्रवादी नेताओं के व्यापक दमन और गिरफ्तारियों को उचित ठहराने का ही मौका मिला। समाचार पत्रों पर कड़े प्रतिबंध लगा दिए गए। और अंततः 20 दिसम्बर, 1851 को राष्ट्रपति के प्राधिकार को बढ़ाने के विषय पर एक जनमत कराया गया। इस जनमत में भी ऐसे दमनपूर्ण उपाय किए गए जिनसे बहुमत विद्यमान राष्ट्रपति के ही पक्ष में हो सके। यह तरीका नए शासन का स्थाई हथकंडा बन गया; और जब कभी किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय के बारे में शासन को अपने समर्थन के लिए जनता की लामबंदी आवश्यक दिखी, यही हथकंडा हर बार अपनाया गया।

एक साल बाद 'दूसरा साम्राज्य' स्थापित हुआ तो फिर अर्थव्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव और सरकारी तंत्र में परिवर्तन भी हुए। इसके पीछे तात्कालिक उद्‌देश्य था एक ऐसी मजबूत और स्थिर सरकार बनाना जो आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में समर्थ हो, जबकि गणतंत्र की विरासत अर्थात जन समर्थित संप्रभुता को समय–समय पर होने वाले जनमत के माध्यम से बने रहना था। एक नामांकित सीनेट का गठन हुआ जिसमें प्रभावशाली वर्गों से आजीवन सीनेटरों को नियुक्त किया गया। इसके साथ ही संसदीय संस्थाओं का पुनर्गठन हुआ। इसके अतिरिक्त पुरुष मताधिकार से चुने गए 260 सदस्यों की एक विधायिका भी थी। इसके पास विधान तथा कराधान के प्रस्तावों पर विचार विमर्श करने का कोई अधिकार नहीं था। यह अधिकार सम्राट के पास ही रहा। 'दूसरे सम्राज्य' के दौरान निश्चय ही रहन–सहन के स्तर और आर्थिक आधुनिकीकरण के क्षेत्र में काफी सुधार हुआ। अगर ये उपलब्धियां संयोगवश थीं तब भी इन्होंने शासन के प्रति निष्ठा बढ़ाने में मदद की।

अधिनायकवादी साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था ऐक केंद्रीकृत सोपानबद्ध प्रशासन पर केंद्रित थी, और यह व्यवस्था देखने भर को अखंड थी। अधिकारियों पर लगातार स्वार्थ समूहों का दबाव रहता था। जनमत और चुनावों के दौरान होने वाली आम हेरा–फेरी के अतिरिक्त, इसकी एक और विशेषता थी 'सरकारी उम्मीदवारी' की तथाकथित प्रणाली। इस प्रणाली के तहत सरकार आम तौर पर कुछ उम्मीदवारों के पक्ष में अपने समर्थन की घोषणा करती थी और अन्य उम्मीदवारों के प्रति अपना विरोध घोषित करती थी, जिससे कि ऐसे प्रतिनिधियों का चुनाव सुनिश्चित हो जाए जो अधिक भरोसेमंद हों और जिन्हें पक्ष में झुकाया जा सके। किंतु 1860 से स्थितियां उदारवादी साम्राज्य की दिशा में बदलने लगीं। हालांकि जन सभाओं और समाचार पत्रों पर लगे प्रतिबंधों को दशक के अंत में ही हटाया गया, फिर भी नवम्बर 1860 में सरकार ने विधायिका को स्वतंत्र विचार–विमर्श का अधिकार दे दिया। बजट पर संसद को अधिक नियंत्रण दिया गया। संसद के प्रभाव के इस तरह के विस्तार के अलावा, समाचार पत्रों तथा जनसभाओं के प्रति भी शासन अधिक सहिष्णु हो गया। हो सकता है कि इस प्रकार के उदारीकरण ने शासन की स्थिरता में सम्राज्य के विश्वास को ही परिलक्षित किया हो, फिर भी उदारवादी प्रतिपक्ष के बने रहने और 1860 के दशक में इसके बढ़ते प्रभाव ने निश्चय ही उदारीकरण की प्रक्रिया में योगदान किया। मई 1863 के चुनाव परिणाम इस बात का स्पष्ट संकेत थे कि उदारवादी प्रतिपक्ष की उभरने की शक्ति ने सरकार के चुनावी प्रबंधन को इस हद तक बेअसर कर दिया था कि तथाकथित सरकारी उम्मीदवारों को भी प्रशासन का समर्थन अपने लिए नुकसान पहुंचाने वाला लगा। 1869 के चुनावों से यह बात साफ हो गई कि साम्राज्य देहातों में तो अपना समर्थन बनाए रखने में कामयाब रहा था, किंतु शहरों में इसका नियंत्रण

लगातार घट रहा था। इस स्थिति में उसके लिए विधायिका में एक स्पष्ट बहुमत पाना अब और संभव नहीं था। चुनाव के कुछ समय बाद ही जिम्मेदार सरकार की मांग उठ गई। अब से संसद के साथ कार्यकारी संबंध पर जोर दिया जाने लगा। इस उद्देश्य को सामने रख कर सरकारी उम्मीदवार वाली व्यवस्था को छोड़ दिया गया। इन सभी कदमों को मई 1870 में जनमत में समर्थन मिल गया। इसे शासन की प्रचंड जीत माना गया और नेपोलियन वंश को नया 'वेपटिस्म' मिला।

इस स्थिति में, उसी वर्ष (1870 में प्रशा और फ्रांस के बीच) सदां की लड़ाई में हुई सैनिक हार के तुरंत बाद नेपोलियन तृतीय के 'लोकतांत्रिक ज़ारवाद' का ध्वस्त हो जाना इतिहासकारों के लिए उलझन का विषय बना रहा है। फिर भी यह इस किस्म के जनआधारित अधिनायकवाद की बुनियादी विकृति का संकेत देता है। इस प्रकार के शासनों की वैधता अधिकतर विदेश नीति की लगातार सफलता पर निर्भर करती है। यही कारण है कि उदारीकरण के बावजूद 'दूसरे साम्राज्य' बच नहीं सके, जब सैनिक पराजय और राष्ट्रीय अपयश के बोध ने इसकी वैधता को नष्ट कर दिया।

अन्य बोनापार्टवादी शासनों की तरह, 'दूसरे साम्राज्य' में भी दमन को जन समर्थन की लामबंदी के साथ अच्छी तरह से मिला दिया गया था। बोनापार्टवादी राज्य में जो जनमत का तत्व था उसने इसे बीसवीं शताब्दी की फासीवादी तानाशाहियों से अलग चरित्र दिया था, हालांकि दोनों ही व्यवस्थाओं में यह उद्देश्य निहित था कि एक प्रतिनिधिक राजतंत्र की सीमाओं से आगे निकला जाए, जिसमें वर्ग और तबकों की शत्रुताएं और प्रतिस्पर्धाएं प्रकट रूप में राज्य के लिए कमजोरियों के स्रोत थे। 'दूसरे साम्राज्य' की प्रकृति को लेकर होने वाली बहस इस मार्क्सवादी सिद्धांत से प्रेरित है कि कुछ स्थितियों में राज्य सीधे–सीधे प्रभुत्वशाली वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था, जो कि मार्क्स की 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' में निहित सोच के विपरीत था। फिर भी यह बात उनके हित में थी कि राज्य का दमनकारी तंत्र सक्रिय रहे। लूई नेपोलियन के सत्ता हथियाने से मार्क्स के लिए समस्याएं खड़ी हो गईं। क्योंकि इसका अर्थ था कि प्रभुत्वशाली वर्ग के घटक विभिन्न बुर्जुआ तबकों ने बोनापार्टी तानाशाही के पक्ष में सत्ता का त्याग कर दिया था। इस ढंग से राज्य ने शायद कुछ हद तक स्वायत्ता प्राप्त कर ली थी, भले ही स्थिरता और व्यवस्था को सुनिश्चित करके इसने शासक वर्गों के हितों की रक्षा की थी। इन वर्गों का सामाजिक स्वार्थ संपत्ति की निश्चित सुरक्षा में था तथा इस अधिनायकवादी राज्य ने इस मुद्दे पर कभी समझौता नहीं किया। इस समस्या का समाधान इस तर्क में था कि जिस अभिजात्य वर्ग का हिस्सा सामाजिक तथा राजनीतिक सत्ता में था उन्होंने राजनीतिक संकट के क्षणों में अधिनायकवादी राज्य को एक अपरिहार्य आकस्मिकता के रूप में स्वीकार किया था।

बोध प्रश्न 2

1) नेपोलियन तृतीय के उदय की व्याख्या आप किस प्रकार करेंगे ? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) 'दूसरे साम्राज्य' की विफलता के क्या कारण थे ? पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

7.4 बिस्मार्कवाद

कुछ स्थितियों में (जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी में) सत्ता के अधिनायकवादी स्वरूप को जो स्वीकृति मिली वह उससे कहीं अधिक स्वाभाविक थी जितना कि असामान्य स्थितियों में इस प्रकार के शासनों को आकस्मिकता के मामले के रूप में देखा जाता है। 'दूसरे फ्रांसीसी साम्राज्य' के विरुद्ध प्रशा की जीत के फलस्वरूप 1871 में अपने गठन के बाद जर्मन साम्राज्य का जो अनुभव रहा वह यह बताता है कि जन समर्थन की वैधता प्राप्त एक अधिनायकवादी सरकार को किस प्रकार देश में राजनीतिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए साम्राज्यिक विस्तार का सहारा लेना पड़ा था। जहां तक जर्मनी का सवाल है, इस समस्या का मूल कारण 1860 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में मिलता है। यह उससे भी एक दशक पहले की बात है जब साम्राज्य के छद्म वेश में जर्मन राष्ट्र राज्य की स्थापना मध्य यूरोप में एक प्रभुत्ववादी विदेश नीति और प्रशा के सैनिकवाद के सफल पालन के माध्यम से हुआ था।

जिस व्यक्ति ने इस नीति के बुनियादी ढांचे की सफल रूपरेखा प्रस्तुत की, उसका नाम था ऑटो वॉन बिस्मार्क। वह 1863 में प्रशा का मंत्री–राष्ट्रपति बना और बाद में 1871 में एकीकृत जर्मन राज्य के अस्तित्व में आने के बाद शाही चांसलर के पद पर भी रहा। सच तो यह है कि 1863 में बिस्मार्क को पूर्वी प्रशा में उसकी रियासत से बुलाया गया था। उसे संकट में पड़े प्रशा के राजतंत्र ने इसलिए बुलाया था कि वह सैनिक विस्तार के अत्यंत विवादास्पद मुद्दे को लेकर प्रशा की संसद में बहुमत प्राप्त उदारवादियों और सरकार के बीच मतभेद के कारण खड़े हुए राजनीतिक तथा संवैधानिक संकट का समाधान करे। जहां उदारवादी सेना के प्रबंध के तरीके पर संसद का नियंत्रण चाहते थे, वहीं वॉन रून के अधीन युद्ध मंत्रालय की चेष्टा थी कि सरकार के अधिकारों में संसद के 'अवैध' हस्तक्षेप के खिलाफ अवरोध पैदा किए जाएं। यह टकराव सबसे पहले 1860 में हुआ जब सैनिक विस्तार की युद्ध मंत्रालय की योजनाओं के लिए वित्तीय मंजूरी हेतु एक नया कानून संसद के समक्ष लाया गया। बहुमत वाले उदारवादियों ने इसे समाज के और अधिक सैन्यीकरण की दिशा में एक कदम के रूप में देखा। उन्हें भय था कि नागरिकों की सेना की कीमत पर नियमित सेना का विस्तार प्रशा के निरंकुश शासन के हाथों में दमन का हथियार बन जाएगा। इस संदर्भ में जब प्रशा की सरकार समर्थकों के चुनाव को पक्का नहीं कर पाई तो प्रशा के सम्राट काइजर ने एक क्षण के लिए तो अपने बेटे को गद्दी सौंपने का विचार कर लिया था। उसका यह बेटा उदार प्रवृत्ति का और संवैधानिक राजतंत्र के नेता के रूप में उपयुक्त था। एक संवैधानिक राजतंत्र और जनमत पर आधारित एक निरंकुश शासन के बीच चुनाव करना था। राजतंत्र के मुख्य समर्थक अर्थात रूढ़िवादी जमींदारों ने अंततः इस निरंकुश शासन का ही चुनाव किया, और इस संदर्भ में बिस्मार्क को जर्मन राष्ट्र के अद्भूत नेता के रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। प्रशा का प्रधानमंत्री बनने के बाद उसने ऐसी परिस्थितियों में शासन किया जहां बजट को संसद की स्वीकृति नहीं थी, प्रतिपक्ष की आवाज कमजोर कर दी गई और राजतंत्र को विद्यमान संकट से उबारने के लिए उस पर तानाशाही शासन थोप दिया गया। क्षतिपूर्ति तो विदेश नीति की सफलता के रूप में सामने आई, जिसने जर्मनी के एकीकरण का रास्ता साफ कर दिया। (1866 में प्रशा और आस्ट्रिया के बीच हुए) सदोवा के युद्ध में प्रशा की जीत ने जिस हद तक बिस्मार्क के नेतृत्व में राष्ट्रीयकरण के उदारवादियों के स्वपन को साकार किया, प्रशा के उदारवादी तो बिस्मार्क के 1860 के दशक के प्रारंभ के बजट रहित शासन को भी मंजूरी देने को तैयार हो गए। और, इस संदर्भ में उन्होंने इस महान नेता की ज्यादतियों को भी माफ कर दिया, क्योंकि उसे अब उदारवादियों के बीच एक श्वेत क्रांतिकारी के रूप में देखा जाने लगा था।

बिस्मार्क और उसके उदारवादी आलोचकों के बीच अंततः जो समझौता हुआ उससे जर्मन साम्राज्य का चरित्र तय हुआ। 1871 के संविधान ने एक राष्ट्रीय संसद का गठन किया जिसका चुनाव सार्वभौमिक पुरुष मताधिकार के आधार पर होना था, किंतु लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई इस संसद को सरकार पर किसी भी प्रकार के नियंत्रण से वंचित रखा गया। हालांकि राष्ट्रीय संसद की सहमति अत्यधिक निर्णायक विधान के लिए आवश्यक थी, फिर भी वह विधान बना नहीं सकती थी, और सम्राट के मंत्री भी इसके प्रति जवाबदेह नहीं थे। सरकारी व्यवस्था बुनियादी तौर पर प्रशा की व्यवस्था का ही विस्तार था जिसमें सैनिक कुलीनतंत्र के विशेषाधिकारों तथा अधिकार को जनता के हस्तक्षेप से सुरक्षित रखा गया था। इस प्रकार औद्योगिक क्रांति से पूर्व के जमींदार अभिजात्य वर्ग की सत्ता को एक ऐसे युग में बना कर रखा जा सका जब उनके राजनीतिक प्रभुत्व के सामाजिक आधार को औद्योगीकरण ने और उसके परिणामस्वरूप उनकी सत्ता के संभावित खतरे के रूप में

उभरने वाले बुर्जुआ और मध्यम वर्ग ने नष्ट किया। सैनिक कुलीनों का अस्तित्व बचाए रखने की रणनीति 1866 के बिस्मार्क के फर्मूला पर आधारित थी, इसलिए इसमें मध्यम वर्गीय समाज के ऊंचे तबकों के साथ सामंजस्य की बात निहित थी। यह तबका संवैधानिक सरकार के विषय में नरमपंथी विचार रखता था और राजतंत्र तथा प्रमुख सत्ता केंद्र के रूप में सैनिक कुलीनतंत्र के अस्तित्व के प्रति अधिक सहिष्णु था। औद्योगिक क्रांति के पूर्व के जमींदार कुलीनतंत्र के पास नागरिक तथा सैनिक नौकरशाही में होनेवाली नियुक्तियों का नियंत्रण बना रहा और उसने सत्ता को बनाए रखने के लिए एक रणनीति का सहारा लिया गया। इस रणनीति के तहत रूढ़िवादी जमींदारों को देहाती इलाकों की लोकप्रिय राजनीतिक हस्तियां बना दिया गया। उनसे यह भी अपेक्षा रखी गई कि वे किसानों के आर्थिक सघर्ष में उनका नेतृत्व करके खेतिहर वर्गों के ठोस राजनीतिक गुट बनाएंगे। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि शहरी उदारवादियों के चुनावी प्रभुत्व को तोड़कर रूढ़िवादी व्यवस्था के लिए एक अपने हित में मोड़ी जा सकने वाली संसद का गठन किया जाए। बिस्मार्क ने 1870 के दशक के मध्य से इस प्रकार की राजनीतिक चालों को सक्रियता से संरक्षण दिया, जिसके चलते 1878 और उसके बाद के चुनावों में राष्ट्रीय संसद में उदारवादियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया, क्योंकि खेतिहर गुटों से अपनी ताकत हासिल करके रूढ़िवादी पार्टी नया दमखम लेकर उभरी।

चुनावी चालों के बल पर रूढ़िवादी शासन के लिए संसद का समर्थन जुटाने की बिस्मार्क की इस रणनीति की सफलता अंततः 'विदेशी मामलों की भाप शक्ति पर आंतरिक रणनीति को चलाने' के उसके कौशल पर निर्भर थी। यह भविष्यवाणी भी जल्द ही सच सिद्ध हो गई कि वह 'एक निर्भीक विदेश नीति के बल पर घरेलू मुश्किलों पर काबू' कर लेगा। जैसे कि 1860 के दशक के संवैधानिक संकट को एक सफल विदेश नीति की मदद से हल कर लिया गया था, साम्राज्यिक विस्तार की नीति बिस्मार्क की कार्य सूची में लगभग तभी से जगह पाने लगी थी जब वह उदारवादी प्रतिपक्ष के ख़िलाफ एक औद्योगिक–खेतिहर गठजोड़ बनाने में व्यस्त था। निश्चय ही, साम्राज्यवाद के पीछे जो मंशा छिपी थी उसके लिए जर्मन उद्योग से जुड़े विभिन्न स्वार्थ समूह ही जिम्मेदार थे। किंतु वे एक ही तत्व का प्रतिनधित्व करते थे। हांस ऊलरिंख वेहलर अथवा वॉल्कर बेरखान जैसे जर्मन इतिहासकारों के मत में एक सफल विस्तारवादी कार्यक्रम के सहारे राजनीतिक सत्ता के ढांचे और यथास्थिति को वैधता प्रदान करने की उतनी ही महत्वपूर्ण इच्छा भी विद्यमान थी। इस रणनीति का कम से कम नतीजा यह था कि उदारवादी प्रतिपक्ष ने बुनियादी राजनीतिक सुधार के लिए जो आंदोलन खड़े किए थे उनसे तथा समाजवादी मजदूरों के उस आंदोलन की ओर से ध्यान हट गया जो 1880 के दशक से गंभीर खतरा बनता जा रहा था। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह एक प्रतिरक्षात्मक रणनीति थी जिसका उद्देश्य सत्ता के पारंपरिक ढांचे की उन खतरों से रक्षा करनी थी जो मध्यम वर्गों और मजदूरों ने खड़े किए थे। राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एक ऐसा मुद्दा था जिससे आलोचकों को समर्थकों में बदला जा सकता था। यह रणनीति 1890 में बिस्मार्क के शासन का अंत हो जाने के बाद भी बदली नहीं गई। काइजर विलियम द्वितीय की 'वेल्ट पॉलिटिक' भी विस्तारवाद के उसी हथियार की अगली कड़ी थी जिसका उद्देश्य जर्मनी के सैनिक कुलीनतंत्र के राजनीतिक प्रभुत्व को स्थिरता तथा वैधता प्रदान करना था।

इस रणनीति का अपरिहार्य परिणाम तो नस्ल के आधार पर अति राष्ट्रवादी किस्म की जनता की लामबंदी के रूप में सामने आया। यह एक प्रकार से बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों की फासीवादी लामबंदी की बुनियादी विशेषताओं की प्रवर्तक थी। अदभुत नेता का जो तत्व बोनापार्टवाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, वह बाद में फासीवादी लामबंदी का भी मार्गदर्शन करता रहा। नात्सी जर्मनी में फ्यूयर (हिटलर) की संकल्पना में नेता के प्रति सम्पूर्ण आज्ञाकारिता और समर्पण का भाव निहित था। इसके अतिरिक्त नात्सी आंदोलन की अधिकांश नस्लवादी विचारधाराओं का स्रोत वे नस्लवादी सिद्धांत थे जिनका इस्तेमाल जर्मनी के शासक वर्ग इससे पहले (उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में) अतिशय राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा देने के लिए कर चुके थे। इस नस्लवादी तथा अति राष्ट्रवादी मानसिकता के केंद्र में वह 'सामजिक डार्विनवाद' था जिसने मानव के दायरे में प्राकृतिक चुनाव के जैविक सिद्धांतों और 'ताकतवर/योग्यता की जीत' की उतनी ही अस्थिर धारणा को लागू कर दिया था। इस पूरे तर्क का निहितार्थ यह था कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच विश्व में प्रभुत्व बनाने की प्रतिस्पर्द्धा स्थानिक होती है जिसमें केवल योग्य या ताकतवर की ही जीत होगी। यह सिद्धांत जरमन राज्य की साम्राज्यिक महत्वाकांक्षाओं के बिलकुल अनुकूल था। इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि इन विचारों को नेवी लीग, कलोनियल लीग और पैन जर्मन लीग जैसे संगठनों ने नीचे जनता के स्तर तक पहुंचाने का काम किया। नेवी लीग ने तो प्रभुत्वशाली औपनिवेशिक ताकतों की बराबरी करके एक बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के लिए एक सुदृढ़ नौसेना बनाने का आग्रह किया, और पैन जर्मन लीग ने यूरोप, विशेषकर 'निकृष्ट स्लेवोनी जनता' की आबादी वाले

महाद्वीप के पूर्वी छोरों के जर्मनीकरण की धारणा को लोकप्रिय बनाने का काम किया। इन लोगों को सभ्य बनाने के काम को ट्यूटोनिक (ऐंग्लो–सैक्सन, डच, जर्मन तथा स्कैंडिनेवियाई) नस्ल का महान मकसद माना गया। परचे लिखने वालों ने मांग की कि जर्मन लोग इस नेक मकसद की सेवा में आत्म त्याग का परिचय दें।

नस्ल तथा जातियता के छद्‌म वैज्ञानिक सिद्धांतों ने निकृष्ट लोगों की पतितावस्था और कमजोर मानसिकता के विरूद्ध ट्येटोनिक नस्ल की चारित्रिक मजबूती को सामने रखा। निकृष्ट लोगों में यहूदी भी थे जिनकी व्यापारिक जगत में श्रेष्ठतम स्थिति ने जर्मन दस्तकारों और छोटे व्यापारियों को उनका शत्रु बना दिया और यह स्वाभाविक ही था कि ये ही जर्मन तबके सेमीटिक–विरोध के सबसे प्रबल समर्थक थे। 1890 के दशक से सेमीटिक विरोध की जो विचारधारा पैन जर्मन लीग की गतिविधियां मजबूत करती आ रही थीं वह नात्सी जर्मनी के समय में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। उन्नीसवीं शताब्दी के बोनापार्टवाद की विशेषताओं से निश्चित रूप से सज्जित इस नात्सीवाद के उदय को इतिहासकारों ने जर्मन राज्यतंत्र में विद्यमान कुछ लोकतंत्र विरोधी ढांचों से जोड़कर देखा है। इस तर्क में सचमुच एक सार्थकता है कि बिस्मार्क के राज्य अर्थात जर्मन राज्य और 'तृतीय रीच' में निरंतरता के महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं। फिर भी नात्सियों ने जो आत्याचार किए वे इतने कठोर थे कि उन्होंने बिस्मार्क के राज्य के निरंकुशतावाद को आगे बीसवीं शताब्दी में होने वाली घटनाओं से बिलकुल अलग विशिष्टता प्रदान कर दी।

बोध प्रश्न 3

1) बिस्मार्क ने उदारवादी आलोचकों को कैसे नियंत्रित किया ? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

2) जर्मन शासकों ने विस्तारवाद की नीति को क्यों अपनाया ? पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

7.5 सारांश

इस इकाई में आपको यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में आए बदलावों की जानकारी दी गई। क्रांतिकारी आंदोलन और उदारवाद तथा राष्ट्रवाद के बढ़ते प्रभाव ने यूरोपीय सरकारों के लोकतांत्रीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अलग–अलग देशों में लोकतंत्रीकरण की प्रकृति अलग–अलग रही। संसदीय किस्म की सरकार वाला ब्रिटेन एक प्रकार के नमूने का प्रतिनिधि था, तो उधर फ्रांस और जर्मनी में जन समर्थन से वैधता प्राप्त तानाशाही स्थापित हुई।

7.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अंगरेजी क्रांति, शाही निरंकुशतावाद का उन्मूलन, मताधिकार का विस्तार, औद्योगिक क्रांति, सुधार आंदोलन, आदि। देखिए भाग 7.2

2) विभिन्न राजनीतिक शासन, सामाजिक बदलाव और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अंतर, आदि। देखिए भाग 7.2

बोध प्रश्न 2

1) राजनीतिक संकट, गुटीय राजनीति, अस्थिरता का सामान्य भय, स्थिरता के प्रतीक के रूप में नेपोलियन का उदय, आदि। देखिए भाग 7.3
2) केंद्रीकृत सोपानबद्ध प्रशासन, जवाबदेह सरकार की मांग, आदि। देखिए भाग 7.3

बोध प्रश्न 3

1) बिस्मार्क राष्ट्रीय एकीकरण का प्रतीक था, विदेश नीति में उसकी सफलता, बिस्मार्क की राजनीतिक युक्तियां, आदि। देखिए भाग 7.4
2) राजनीतिक सुधार की मांगों को टालना, जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काना, आदि। देखिए भाग 7.4

इस खंड हेतु कुछ उपयोगी पुस्तकें

ई.जे. हॉब्सबॉम,: *दि एज ऑफ रिवोल्यूशन, 1789-1848*

जॉर्ज रूड,: *रिवोल्यूशनरी यूरोप*

विलियम डॉयल,: *दि ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ दि फ्रेंच रिवोल्यूशन*

डी. टॉमसन, : *यूरोप सिंस नेपोलियन*

घटनाओं का कालक्रमिक विवरण

- 5 मई, 1789, वेरसाय में इस्टेट जनरल का समाहवान।
- 17 जून, 1789, टेनिस कोर्ट शपथ और राष्ट्रीय असेम्बली की स्थापना।
- 14 जुलाई, 1789, बैस्टील दुर्ग पर चढ़ाई को अराजकतावाद का प्रतीक माना गया।
- 5 अगस्त, 1789, सामंती व्यवस्था की समाप्ति।
- 26 अगस्त, 1789, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा।
- 3 सितम्बर, 1791 नए संविधान की घोषणा।
- सितम्बर 1792, फ्रांस एक गणतंत्र घोषित किया गया।
- 1793-94, आतंक का राज्य।
- जुलाई 1794, रोबेसप्यार का पतन
- 1795-99, 'डायरेक्टरी' का शासन (थर्मडारी गणतंत्र)।
- 1799-1815, नेपोलियन बोनापार्ट का फ्रांस पर शासन
- 1814-1818] वीएना की कांग्रेस, कांग्रेस में भाग लेने वाले प्रतिनिधि थे आष्ट्रिया का मेटरनिख, ब्रिटेन का कासलरे, रूस का जार आलेक्सांदर, प्रशा का वॉन हम्बोल्ट, फ्रांस का तालेरां।
- 1815, विदेशी मामलों में एकजुटता का पालन करने के लिए रूस, आस्ट्रिया और प्रशा में 'पवित्र गठबंधन'।
- 1818, एक्स लॉ शापेल की कांग्रेस।
- 1820, ट्रोपो की कांग्रेस
- 1821, लाइबाख की कांग्रेस
- 1824-1830, फ्रांस में चार्ल्स दसवें का राज्य।
- 1830, फ्रांस में जुलाई क्रांति, चार्ल्स दसवें का पलायन और आर्लियंस परिवार के लूई फीलीप की ताजपोशी।
- 1815-48 , यूरोप में मेटरनिख युग के नाम से विख्यात, मेटरनिख 1809 में आस्ट्रिया का चासंलर बना।
- 1848, फ्रांस में फरवरी क्रांति, फ्रांस के दूसरे गणतंत्र की घोषणा।
- 1852, नेपोलियन तृतीय द्वारा दूसरे फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना।
- 1854-56, क्रीमिया का युद्ध।